

# विमर्श

■ अंकित कुमार मिश्र

पूर्व छात्र अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय

■ रीतिका सिंह

छात्रा अजीम प्रेमजी विश्वद्यालय

पिछले दिनों साठ सत्तर के दशक के कई कामयाब फिल्मों की दिलकश अदक़रा कुमकुम नहीं रही। सौ से अधिक फिल्मों को अपने अभिनय से अभिनीत करने वाली कुमकुम ( असली नाम जेबुनिसा) को प्यासा, मरर इंडिया, मिस्टर एक्स इन बॉम्बे, सन ऑफ़ इंडिया, कोहिनूर, नया दौर, एक सपेरा एक लुटेरा, गंगा की लहरें, राजा और रंक, आंखें और ललकार जैसी कई कामयाब हिंदी फिल्मों के लिए तो याद किया ही जाएगा। मगर 1962 की श्याम सेल्युलॉइड पर सूक्ष्म रेखाओं में गुंफित बेहद प्रभावशाली व मर्मसपर्शी दृश्यावली वाली भोजपुरी इतिहास की पहली फिल्म गंगा मैया तोहे पियरी चढ़ैयबो के लिए सर्वाधिक याद किया जाएगा। वास्तव में यह फिल्म रूढ़िवादी सोच के बीच अभाव में जकड़े ग्रामीण जीवन का चित्रण है जिसका प्रत्येक दृश्य अपने आप में एक मुकम्मल तस्वीर है। यह फिल्म अभावग्रस्त भारतीय पुरुष प्रधान ग्रामीण समाज में बेटियों की दयनीय स्थिति व उसके ब्याह को लेकर उसके पिता द्वारा सहन की जाने वाली सघन यंत्रणा का मजबूत यथार्थवादी वेवाक कहानी तो है ही साथ ही समाज में स्त्री शिक्षा से वंचित समाज, दहेज प्रथा, विधवा पुर्विवाह विरोधी संवेदनशील सामाजिक मुद्दे को भी बखूबी चित्रित करता है. वह भी एक ऐसे समय में जहां इन चीजों पर चर्चा करना भी सामाजिक अपराध की श्रेणी में गिना जाता है। यह फिल्म निम्नवर्गीय बेटी के पिता की व्यथा का चरमोत्कर्ष है जहां सामाजिक मान मर्यादा के बोझ तले मानवीय मूल्य दब जाती है। गंगा मैया तोहदा चुनरी चढ़ईबो फिल्म के कथानक में एक शिक्षित व अमीर लड़का श्याम गांव की एक अनपढ़ गरीब लड़की रुहमती से प्रेम करता है। श्याम का पिता एक साहूकार है जो अपने बेटे की शादी के लिए दहेज के रूप में बड़ी रकम की मांग करता है परिणामस्वरूप श्याम की शादी अपनी प्रेमिका सुमित्रि से नहीं हो पाती। उपर सुमित्रि का विवाह एक साठ वर्षीय जुजुर्ग से कर दिया जाता है जो दांपत्य जीवन के सुख से पूर्व ही दम तोड़ देता है। अपनी पुत्री के विधवा होने के विरोध में बाप को जिम्मेदार ठहराते हुए उसकी मां स्वर्ग सिंधार जाती है। सुमित्रि इस रूढ़िवादी समाज के ताने बाने को नहीं सह पाई। नृद्ध पिता पर बोझ न बनने की सोच उसे बनारस ले आई। हालांकि दुर्भाग्य यहां में भी उसका पीछा नहीं छोड़ा और वह खुद पर झूठे त्रिया चरित्र के आरोप को सहन नहीं कर पाई और आत्महत्या कर लेना उचित समझा। हालांकि हकीमी तरह बच जाने के बाद वह एक कोठे के गाने और नानचे वाली औरत बन जाती है परन्तु अपनी पवित्रता पर जरा भी आंच नहीं पड़ने देती। इधर श्याम अपने पिता की जली कटी सुनकर रोजगार की तलाश बनारस

आ पहुंचता है। संयोग से उसकी मुलाकात सुमित्रि से होती है। पहले तो श्याम को सुमित्रि का यह पेशा रास नहीं आता मगर जल्द ही उसे अपना भी लेता है। सुमित्रि को अपने साथ ले जाने की जदोजहद जब वह धायल हो जाता है। इस दौरान अस्पताल श्याम के पिता सुमित्रि को अपनी बहू स्वीकार कर वह दोनों को घर ले आते हैं। नाजिर हुसैन की पटकथा में एक तरफ जहां सामाजिक और मानवीय भाव स्पष्ट दिखाई देता है वहीं दूसरी ओर फिल्म में श्याम की शिक्षा पूरी होने पर बिदेशिया का आयोजन व पूरब देस गइल मोरे सैयां गीत निर्माताओं के क्षेत्रीय संस्कृति के प्रति गहवृ लगव प्रदर्शित करता है जिसे बड़ी बारीकी से फिल्म में पिरोया गया है। फिल्म का हर कलाकार इतना संजीदा अभिनय कर रहा है जैसे वह अपनी अपनी जिंदगी जी रहा हो। यही वजह है कि फिल्म की भाषा भोजपुरी होने बावजूद वह हर जनमानस को अपनी ही कहानी लगती है।फिल्म का मजबूत चित्रण फिल्म की नायिका के गह्वर में था। नजीर हुसैन साहब ने जितनी संजीदगी के साथ बेटी की अत:पीड़ा को नायिका के चरित्र में समोया था, कुमकुम जी ने उतनी ही मिठास के साथ उसे अभिव्यक्त भी किया। चाहे भाव भंगिमा हो या संवाद संप्रषणणीयता मानो सचमुच दुखों की मारी कोई घर जव्वा की सयान बेटी परदे पर उतर आई हो। परदे पर इतनी जीवन्तता शायद इसलिए भी उतर आ पायी थी कि कुमकुम जी की जड़ बिहार से जुड़ी थी। हालांकि कुमकुम जी ने कहा था कि उनका जुड़व भले बिहार से रहा हो मगर उनकी भोजपुरी धाराप्रवाह नहीं थी। उनके अनुसार जब फिल्म का पहला सीन बाप- बेटी ( नाजिर हुसैन व कुमकुम) का संवाद शूट किया गया तो वहां मौजूद टीम सदस्यों और उपस्थित लोगों के आंखों में आंसू आ गए थे। इस बात से उनके आत्मविश्वास को काफी बल मिला। यूं तो फिल्म के हर किरदार ने काफी अच्छा अभिनय किया मगर कुमकुम जी का अभिनय व संवाद कौशल वाकई शब्द के बंधन से पड़े था जिसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है।

फिल्म का गीत- संगीत अनेक दृश्यों में एक अन्य चरित्र का भान कराता है। गीतकार शैलेन्द्र व संगीतकार चित्रगुप्त की बिहारी जोड़ी ने अपने शब्द और धुन से जिस तरह शांत, मधुर और मार्मिक

गीत व संगीत से खालिस देहाती जीवन का परिदृश्य तैयार किया उसे उसी अंदाज में उया जी, लता जी, सुमन कल्याणपुर व रफी साहब के स्वर ने फिल्म में प्राण डालने का काम किया। फिर चाहे वह गंगा मैया तोहरे पियरी चढ़ैयबो हो या काहे बसुरिया बजबल तूं या फिर रफी साहब की दर्द भरी आवाज में आम जनजीवन के दुख दर्द को व्यक्त करता हुआ गीत सोनवा के पिंचरा में बंद भईले। फिल्म के सभी गीत काफी लोकप्रिय हुईं। यही कारण है कि फिल्म निर्माण के दो दशक उपरांत भी ये गीत आल इंडिया रेडियो पटना से अक्सर गुंजते रहे थे।

फिल्म की शूटिंग फरवरी 1960 पटना के शहीद स्मारक से शुरू हुई। इसके सारे सीन पटना के स्थानीय दृश्यों में भी फिल्म की ओर लोगों को खूब आकर्षित किया। कम संसाधनों के बीच आर के पंडित के कमाल के सिनेटोग्राफी ने फिल्म के एक एक दृश्य को इतनी बारीकी से पिरोया कि दर्शकों को कहीं उबने का मौका ही नहीं मिलाता।

गंगा मैया तोहे पियरी चढ़ैयबो के पर्दे के पीछे की कहानी भी फिल्म की कहानी से कम दिलचस्प नहीं है। पचास के दशक में एक फिल्म पुरस्कार वितरण कार्यक्रम के दौरान अभिनेता नाजिर हुसैन की मुलाकात तत्कालीन भारतीय राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद से हुई। ऊंचे लंबे कद के नाजिर हुसैन से राष्ट्रपति ने पूछा क्या आप पंजाब से हैं? मे पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजियाबाद जिले से हूं। नाजिर का जबाव सुनकर का उत्तर बिहार के सीवान जिले से संबंध होने और भोजपुरी से जुड़व होने की वजह से राजेंद्र बाबू उनसे भोजपुरी में बात करने लगे। राजेंद्र बाबू ने नाजिर से पूछ पड़े आप लोग कभी भोजपुरी भाषा में फिल्म निर्माण क्यों नहीं बनाते? नाजिर ने बड़ी सहजता से जबाव दिया कि वह सामान्य अभिनय कलाकार है जबकि फिल्म निर्माण की लागत काफी अधिक होती है। राजेंद्र बाबू इसके बावजूद नाजिर से भोजपुरी में फिल्म निर्माण की हार्दिक इच्छा प्रकट करते रहे।

राष्ट्रपति से प्रोत्साहित होकर नाजिर हुसैन गंगा मैया तोहे पियरी चढ़ैयबो का पटकथा दो बीघा जमीन व देवदास जैसी बेहद चर्चित

# लोकमान्य तिलक और आज की पत्रकारिता

## □ तुषार अ. रहटगांवकर

लोकमान्य तिलक भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक महान रणनीतिकार और क्रांतीतिज्ञ थे। तिलक के विचारों की विभिन्न आधारों पर समीक्षा करके उनसे सहमत या असहमत हुआ जा सकता है किन्तु उनके स्वतंत्रता संग्राम के अथक योगदान को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। वास्तव में उन्हें स्वतंत्रता संग्राम में असंतोष के जनक के रूप में जाना जाता है। केसरी में लिखे उनके संपादकीय ने आम आदमी के मन में आजादी के लिए जो ज्योत प्रन्चलित की वह अतुलनीय है। तिलक का मानना था कि जिस तरह नगर निगम के लालटेन रात्रि में गश्त का काम करते है उसी तरह समाचार पत्रों को भी आम आदमी के लिए पहरेदारी का काम करना चाहिए। अकसर कहा जाता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तो इसका अर्थ उसकी समाज के प्रति प्रतिबद्धता से है। समाज और आदमी को अलग अलग नहीं किया जा सकता अतः समाज में घटेने वाली प्रत्येक घटना का प्रतिबिंब अखबारों में प्रकट होना चाहिए। पत्रकारिता के प्रति ऐसी उक्तट इच्छा रखने वाले लोकमान्य तिलक की स्वामीरोहण की शताब्दी है, अतःइस अवसर पर तिलक की पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान पत्रकारिता का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

भारत में पत्रकारिता पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत बाद में आयी, जिस वजह से पत्रकारिता के महत्व को समझने में भी हमें काफी समय लग गया, किन्तु तिलक जैसे दूरदृष्टया ने यह जाना कि समाज की लड़ाई के लिए इससे बेहतर हथियार कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। अमरीकी क्रांति को भी मीडिया ने ही आगे बढ़ाया था। इन सबके मद्देनजर लोकजागरण के उद्देश्य को सामने 1881 में पूना से ‘केसरी’ और ‘मराठ’ नामक समाचार पत्रों की

शुरुआत की। भारत में जनमत के लिए समाचार पत्रों के पहले प्रयोग का मान ‘केसरी’ को जाता है। सामजिक और सांस्कृतिक घटनाओं के समयोचित स्थलांतरण के फलस्वरूप ही इनका जन्म हुआ था। ‘केसरी’ ने सरकार विरोधी भावनाओं को आम आदमी के स्मृति पटल पर अंकित करते हुए उनके मन में राष्ट्रवाद की जो अलख जगाई, वह अतुलनीय है।

प्रत्येक व्यक्ति का जैसे एक स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है वैसे ही प्रत्येक अखबार का भी एक विशेष व्यक्तित्व होता है।

वाचक और अखबार का रिश्ता इन व्यक्तित्व के समान धागों से ही बुना जाता है। अपना अखबार प्रारंभ करने के पूर्व ही तिलक ने उसके व्यक्तित्व की अवधारणा स्पष्ट कर दी थी। अखबार के प्रकाशन पूर्व विज्ञापन के माध्यम से इस धारणा के बारे में स्पष्ट करते हुए तिलक लिखते हैं कि बाकी अखबारों की तरह इसमें भी विभिन्न विषयों यथा राजनीति, व्यापार, मनोरंजन इत्यादि से संबंधित समाचार तो होंगे ही किंतु वर्तमान राज्य व्यवस्था, लोकजीवन से संबंधित विषयों पर लेख और विचार भी होंगे। आज किसी भी अखबार में देश की वर्तमान स्थिति, लोगों की भावनाओं और देशी ग्रंथों के बारे में कहीं भी नहीं लिखा जा रहा है जिसकी पूर्ति यह करेगा। हमारा अखबार उपरोक्त सभी विषयों का विवेचन निः पक्षपात रूप से और जो हमारी बुद्धि को योग्य लगेगा, उसी अनुसार करेने हम कृतसंकल्प हैं। आजकल सारे अखबार सरकारी भाव बनने में ही मग्नहुल है। यह प्रथा अत्यंत नindनीय व देश हित में नहीं है। हमारे अखबार की कोई भी कृति



इस प्रकार की नहीं होगी। अपने लड़के का अंतिम संस्कार करने के तुरंत बाद अखबार के लिए संपादकीय लिखने वाले तिलक की पत्रकारिता के प्रति निष्ठा को देखते हुए यह इसमें तनिक भी संदेह नहीं होना चाहिए कि उन्होंने अपना अखबार पूरे जीवन पर उपरोक्त मूल्यों के आधार पर ही चलाया होगा।

पत्रकारिता एक अखबार समाज के नब्ज को टटोलने का काम करते है। जिस प्रकार डॉक्टर स्पेथेस्कोप से शरीर के धड़कनों की ऊंचनीच को मापता है उसी प्रकार पत्रकार समाजरूपी शरीर के धड़कनों की ऊंचनीच को अपने अखबारों के माध्यम से प्रदर्शित करते है।

सारांश पत्रकारिता समाज के आरोग्यरक्षण करने वाली प्रतिकार शक्ति के रूप में काम करती है। आज जब पत्रकारिता के मूल्य, आचारसंहिता और विश्वासहतां दांव पर लगे हैं, पत्रकारिता जवाबदार होने के बजाए दिन व दिन बेजवाबदार होते जा रही है तो तिलक की पत्रकारिता इस विषय पर योग्य मार्गदर्शन करती है। तिलक का नाम लेते ही ज्वालाग्राही पत्रकारिता का चित्र आखों के सामने उभरकर आता है। स्वतंत्रता के लिए शब्दों के शस्त्र चलने वाले वे एक महान और निर्भीक पत्रकार थे। उनके शब्दों में ही इतनी ताकत थी कि पढ़ते ही लोगों के रा रा में राष्ट्रीयता की भावना का संचार होने लगता था। इसके बावजूद उन्होंने कभी भी भावनाओं के आवेश में अपने शब्दों को आपे से बाहर नहीं होने दिया। उनका कहना था कि अखबार में इतनी ताकत होनी चाहिए कि सामने वाले के मन में ज्वालामुखी तो सुलगना चाहिए किन्तु इसी समय खुद का दिमाग बर्फ जैसा शांत होना चाहिए। पत्रकारिता के इस आधारभूत तत्वज्ञान को आज समझने की बहुत आवश्यकता

है।

पत्रकारों के कर्तव्यों के बारे में तिलक ‘केसरी’ के संपादकीय में लिखते है कि मुलायम कागजों पर रंगरंगीली खबरें छापकर लोगों का मनोरंजन करना अखबार का कर्तव्य नहीं है। देश की वर्तमान स्थिति, आम आदमी को उसके प्रति समझ और इस दिशा में उसका मार्गदर्शन ही एक अखबार का प्रमुख कर्तव्य होना चाहिए। कुल मिलाकर आम आदमी को उसके राजनीतिक और सामजिक अधिकारों की जानकारी देकर एक प्रबुद्ध समाज का निर्माण करना उनका ध्येय था। 8 मार्च 1892 को लिखे अपने एक सम्पादकीय में तिलक कहते हैं कि असत्य, दुर्गग्रही और ढोंगी, फिर वो कोई भी क्यों ना हो, उनका पर्दाफाश करने के लिए ही ‘केसरी’ का अवतार हुआ है। तथाकथित समाजसेवकों की फालतू बकवास जितनी लोगों के सामने आना जरूरी है उतना ही धर्म का लबादा ओढ़े स्वार्थी मौकापरस्तों का पर्दाफाश भी बहुत जरूरी है। हम अखबार सरकार के गुण गाने के लिए प्रकाशित नहीं करते। सरकार पर कठोर टीका टिप्पणी करने के कारण हम पर कितनी भी तीव्र कार्यवाही का हमें रज नहीं किन्तु सरकार पर यदि टीका टिप्पणी ना करनी हो, सरकार दरबारियों को बुरा ना लगे ऐसी खबरे यदि हम प्रकाशित ना करें तो अखबार निकला ही क्यों जाए? हतितलक के इन विचारों के परिप्रेक्ष्य में आज की पत्रकारिता में इन मूल्यों को तलाशना होगा।

1897 में पुणे प्लेग नामक महामारी से पीड़ित हुआ। इस भयानक महामारी के कारण क्रान्तिज्योति सावित्रीबाई फुले की भी मृत्यु हो गई। उस समय, सरकार ने पुणे में रैंड नामक एक अधिकारी की नियुक्ति की थी। अंग्रेज प्लेग के मरीजों का इलाज बहुत ही अमानवीय तरीके से कर रहे थे। अंग्रेज प्लेग की आड़ में नागरिकों को सता रहे थे। तिलक इस सब के खिलाफ लिख रहे थे।

## सावन चोर नेता

■ वर्षा

एक पखवाड़े से लग रहा है जैसे राजस्थान को किसी ने जकड़ रखा है। यूं सावन का महीना है, बूंदें भी मेहरबान हैं

लेकिन लगता है हमारे हिस्से सूखा आ रहा है। हमारे झूले की रस्सी कोई काट रहा है। बणी--ठणी निराश है । घूमर का आनंद कोई और ले रहा है और लहरिया कें रंग भी कोई फ़ीके करते जा रहा है। मोर के नाच में भी रोड़े अटक रहा है। कोरोना के बीच नेताओं ने कोढ़ में खाज का काम कर दिया है। ये सब किसकी ग़ुलती है सो बह करके ही कहेंगे। उस लगर रहा है कि उसके मत को किसी तोड़ा -मरोड़ा है । जो कह रहे हैं हम तो तमाशबीन है ,उनकी आँखों में शरारत है ।

इनका घूमर जो होटलों , कचहरियों और कानून निर्माण की देहरियों के बीच जारी है उखमें लय-ताल की कमी है। इनके झूलों की पंभों डरावनी हैं। कभी-कभी जो लहरिया किन्ही खास मौकों पर अपने शीष पर सजाते हैं ,वह किसी को मोह नहीं पा रहा है। इस धरा के जीवत रंगों को कोई कोई गहरी ऊब में तब्दील कर चुका है । जनमानस का लाखों का सावन किन्ही की बोलियों से तबाह होने की कगार पर है। किसकी कितनी बोली लगी जनता जानना तो चाहती है लेकिन पता नहीं चलेगा यह भी जानती है। महामारी के बीच पदेश लगातार बेहतर चलने की कोशिश में था लेकिन अब दो पाटन बीच जैसे कोई भी साबूत नहीं बचने के हालात में आ पहुँचा है । जनता के प्रतिनिधियों को इस कठिन दौर में जनता के बीच होना चाहिए या फिर विधानसभा में लेकिन ये होटलों में छिपे बैठे हैं। ठीक है चुन लो जिस पाले को तुम्हें चुनना हो लेकिन नैतिक साहस भी रखो यह कहने का कि यहाँ जनता के साथ न्याय नहीं हो रहा था । वोटर की इतना शर्मिदा मत करो कि अगली बार वह किसी को भी चुनने से इंकार कर दे और तुम सिर्फ बोली लागाकर ही वहां पहुँचने के लिए मजबूर हो जाओ।

# आदिवासियों का ब्रिटिश वन कानूनों के खिलाफ विद्रोह

## □ डॉ. गोल्डी एम. जार्ज

आठवीं सदी में अंग्रेजों ने जब से वन क्षेत्र में घुसपैठ करनी शुरू कर दी तो आदिवासियों के पास स्थल थे और इस कारण उनके बीच सीधा टकराव शुरू हुआ। भारत में आदिवासी विद्रोहों के पहले 100 सालों (1760 के दशक से लेकर 1860 के दशक तक) में वन कानून नहीं थे और इस समय जंगलों में इमारती लकड़ी और अन्य संसाधनों का अनियंत्रित दोहन हुआ। इस सी साल के दरमियान सैकड़ों आदिवासी विद्रोह हुए। इसमें से तिलका मांझी (1770-85) के नेतृत्व में जो विद्रोह हुआ उसके बाद अंग्रेजों के सामने वन क्षेत्र के रहने वाले आदिवासियों के संदर्भ में गंभीर सवाल खड़ा हुआ।

अंग्रेजों द्वारा उन्नीसवीं सदी में वन विभाग की स्थापना करने और वनों से सर्वाधिक कानून बनाने के समय से ही दो महत्वपूर्ण पहलुओं को नज़रअंदाज़ किया गया। पहला, आदिवासियों और अन्य मूलनिवासी समुदायों द्वारा वनों के संरक्षण और उनके धारणीय उपयोग के लिए सदियों पुरानी सुस्थापित पारंपरिक प्रणालियां और वनों की पर्यावर्णीय, सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका। इसमें 1855 में सिदो-काहु के नेतृत्व में हुए हूल विद्रोह सबसे निर्णायक था जिसके बाद अंग्रेजों ने एक सख्त वन कानून की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया।

सन् 1855 के संशाल विद्रोह के महेतजर, 1856 में गर्वनर जनरल लार्ड डलहौजी ने एक स्थाई वन नीति बनाने पर जोर दिया। 1864 में अंग्रेजों ने इम्पीरियल फॉरेस्ट डिपार्टमेंट की स्थापना की। सन् 1865 में भारत के पहले वन कानून आया, जिसका संशोधन 1876 में किया गया और नये संशोधनों के साथ फॉरेस्ट एक्ट, 1878 लागू किया गया। इसके बाद सन् 1894 में ब्रिटिश सरकार ने अपनी वन नीति बनायी। अंत में सन् 1927 में ब्रिटिश सरकार ने इंडियन फॉरेस्ट एक्ट को बनाया जो सन 1878 में वनों के दोहन के लिए बनाई गई नीति के अनुरूप था। कुलमिलाकर आदिवासी अपने ही वन क्षेत्र में ही बाहरी व्यक्त के रूप

में स्थापित हो गये।

वन विभाग की स्थापना से पहले, अर्थात् 1864 से पूर्व, जो प्रमुख विद्रोह हुए उन्हें केवल किसानों का अंग्रेजों या जमींदारों या साहूकारों से जुड़े मुद्दों को लेकर विद्रोह नहीं कहा जा सकता। उन्हें हमें बाहरी शक्तियों द्वारा आदिवासियों के वासस्थलों, जो मुख्तार: जंगल और पहाड़ थे, में जबरदस्ती घुसने के प्रयासों के संदर्भ में समझना होगा। इन विद्रोहों और आंदोलनों के पृष्ठभूमि और इतिहास के गहराई से अध्ययन से हमें यह पता लगाया कि सिर्फ जमीन और जंगलों के आर्थिक और परंपरागत महत्व को नज़रअंदाज़ करना या लोगों से इन संसाधनों को छीनन ही इन विद्रोहों के पीछे का कारण नहीं था। इनके पीछे था वह अघोषित सांस्कृतिक युद्ध जिसमें एक ओर थे आदिवासी तो दूसरी ओर गैर-आदिवासी निहित स्वार्थी तत्व, जिन्हें सरकार का समर्थन और सहयोग हासिल था।

वनभूमि से संबंधित कानून के आने से पहले के दौर में हुए आदिवासी विद्रोहों में प्रमुख थे, तिलका मांझी के नेतृत्व में संथाल विद्रोह (1770-85), हल्बा डोंगर (हल्बा), बस्तर (1774-79), महादेव कोली, महाराष्ट्र (1784-85), तमर, छोटानागपुर (1781; 1894-95), पंचेट एस्टेट सेल (1798), कुरुचि, चानांड (1812), सिंधी, आसाम (1825; 28; 43; 47), कोल विद्रोह (सो और मुंडा सहित) (1823), खोंड, ओडिशा (1850), हाथल, छोटानागपुर (1855), सोनाखान, छत्तीसगढ़ (1856-57), भील, गुजरात (1857-58), अंडमानीज़, अंडमान (1859), लुशाई, त्रिपुरा (1860), सिंतेंग, जैंतिया हिल्स (1860-62), जुआंग, ओडिशा (1861) और कोय, आंध्रप्रदेश (1862)।

सन् 1855 में संथाल परगना के भगनाडीह गांव के चार मुन्ू भाइयों, सिदो, काहु, चंद और भैरव के नेतृत्व में हूल विद्रोह पहाड़ी और मैदानी इलाकों में हुआ था। यद्यपि ऐसे

कहा जाता है कि इस विद्रोह का कारण महाजनों और जमींदारों की ज्यादतियां थीं, परन्तु शायद आदिवासियों को यह भी महसूस हो रहा था कि उनकी ज़मीनों और जंगलों पर कब्ज़ा किया जा रहा है। 1857 का सोनाखान विद्रोह, इसी वर्ष कुछ समय बाद हुए एक और बहुचर्चित विद्रोह से पहले हुआ था। इसका नेतृत्व आदिवासी राजा नारायण सिंह ने किया था और इस विद्रोह के मुद्दे भी 1855 के संशाल विद्रोह से मिलते-जुलते थे। सोनाखान एक वनक्षेत्र है और इसके



पास बार नवापारा के घने जंगल भी हैं। 1852 में बम्बई और उसके आसपास के इलाकों में रहने वाले कोल और अन्य वन-आधारित समुदायों में बड़े पैमाने पर पेड़ों को काटने को लेकर भारी गुस्सा था, परन्तु वह विद्रोह में परिवर्तित नहीं हुआ।

सन् 1864 के बाद से, ब्रिटिश ने भारत में केन्द्रीयकृत राजनैतिक-प्रशासनिक व्यवस्था लागू कर दी और इसके साथ ही वनों और वनवासियों के बीच विभाजक की रेखा खींच दी गई। औपनिवेशिक सरकार ने वनों पर अपने स्वामित्व को कानूनी जामा पहना दिया। इसका सीधा सा मतलब यह था कि वनों में रहने वाले समुदाय गैरकानूनी कब्ज़ाधारी हैं और उन्हेोंने सरकार को भूमि पर अधिकारण किया हुआ है। इसका एक दूसरा परिणाम यह था कि वनक्षेत्र में रहनेवाले आदिवासी और मूलनिवासियों पर शिकार

करने का प्रतिबन्ध लगा गया, लेकिन अंग्रेज़ अधिकारियों. जमींदारों, जामोदारों को शिकार की खुली छुट थी।

इस दौर में अनेक आदिवासी विद्रोह हुए। जब भी आदिवासियों के जीवन में बेजा हस्तक्षेप करने की कोशिश हुई, जब भी उन्हें उनकी भूमि या जंगलों से बेदखल करने के प्रयास हुए, जब भी उनकी पारंपरिक संस्कृति, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, नागरिक अधिकारों या न्याय व्यवस्था का उल्लंघन या तिरस्कार किया गया, उन्हेोंने इसका तीव्र, त्वरित और आक्रामक प्रतिकोध किया। इस दौर में हुए महत्वपूर्ण विद्रोहों धनबाद में संथालों (1869-70), उत्तरपूर्व में नागाओं (1879), तमनडोरा के नेतृत्व में ओडिशा के मलकानगिरी में कोयायों (1880), अंडमान और निकोबार द्वीप समूह में सेंटनेलियों (1883), छोटानागपुर में मुंडाओं (1889), लुशाईयों (1892), बिरसा के नेतृत्व में मुंडाओं का उलगुलान (1895), बस्तर में आदिवासियों का भूकाल और गुंडा धूप के नेतृत्व (1910-11), गोविन्द गुरू के नेतृत्व में संघ सभा और गुजरात व राजस्थान के मानागढ़ पहाड़ियों में भीतों (1913-16), मणिपुर में कुकियों (1917-19), रम्पा में कोयायों (1922), उत्तरपूर्व में नागाओं (1932), तेलंगाना के आदिलाबाद में गोंड और कोलम जनजातियों (1941) और लक्ष्मण नायक के नेतृत्व में कोरापुट, ओडिशा में आदिवासियों (1942) का विद्रोह शामिल थे।

हूल विद्रोह के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण आदिवासी आंदोलनों में से एक है उलगुलान (महान हलचल)। उलगुलान बिरसा मुंडा के नेतृत्व में उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशक में किया गया मुंडा विद्रोह है, जो झारखण्ड का सबसे बड़ा आदिवासी विप्लव था, जिसमे हजारों की संख्या में मुंडा आदिवासी शहीद हुए।

धरती आबा के नाम से जाने जाने वाले बिरसा मुंडा, 1 अक्टूबर 1894 को सभी मुंडाओं को एकत्र कर अंग्रेजों से लगान (कर) माफ़ी के लिये आन्दोलन किया। यह अंग्रेजों का आदिवासी जीवन में हस्तक्षेप के खिलाफ सशस्त्र संग्राम था। बिरसा मुंडाओं के बीच अंग्रेजी सरकार की जनविरोधी नीतियों के खिलाफ लोगों को जागरूक करना शुरू कर चुके

थे। जब सरकार द्वारा उन्हें रोक़ा गया और गिरफ्तार कर लिया तो उन्हेोंने मुंडा समुदाय में धर्म व समाज सुधार के कार्यक्रम शुरू किये और तमाम कुरीतियों से मुक्ति का प्रण लिया।

1895 में उन्हें गिरफ्तार कर हजारीबाग केन्द्रीय कारागार में दो साल के कारावास की सजा दी गयी। लेकिन बिरसा और उसके शिष्यों ने क्षेत्र की अकाल पीड़ित जनता की सहायता करने की ठान रखी थी। 1897 से 1900 के बीच अंग्रेज के हर हस्तक्षेप को विद्रोह मुंडाओं और अंग्रेज सिपाहियों के बीच युद्ध होते रहे। बिरसा और उसके साथियों ने अंग्रेजों की नाक में दम कर रखा था। अगस्त 1897 में बिरसा और उसके चार सौ सिपाहियों ने तीर कमानों से लैस होकर खूंट चीन पर धावा बोला। 1898 में तांगा नदी के किनारे मुंडाओं की भिड़ंत अंग्रेज सेनाओं से हुई जिसमें पहले तो अंग्रेजी सेना हार गयी लेकिन इसके बाद उस इलाके के बहुत से आदिवासी नेताओं की गिरफ्तारी हुई।

1898 में डोम्ब री पहाड़ियों पर मु?ंडाओं की विशाल सभा हुई, जिसमें आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार हुई। आदिवासियों के बीच राजनीतिक चेतना फैलाने का काम चलता रहा। अंत में 24 दिसम्बर 1899 को बिरसापथियों ने अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया। 5 जनवरी 1900 तक पूरे मंडा अंचल में विद्रोह की चिंगारियां फेल गईं। 9 जनवरी 1900 को डोम्बार पहा?डी पर अंग्रेजों से लड़ते हुए सैंकड़ों मुंडाओं ने शहादत दी। ब्रिटिश फौज ने आंदोलन को बेरहमी से कुचल दिया। गिरफ्तार किये गए मुंडाओं में से दो को फांसी, 40 को आजीवन कारावास, 6 को चौदह वर्ष की सजा, 3 को चार से छह बरस की जेल और 15 को तीन बरस की जेल हुई।

बिरसा मुंडा काफी समय तक पुलिस की पकड़ में नहीं आये थे, लेकिन एक स्थानीय गद्दार की वजह से 3 मार्च 1900 को वे गिरफ्तार हुए। लगातार जंगलों में भूखे-प्यासे भटकने की वजह से वह कमजोर हो चुके थे। जेल में उन्हे हँजा हो गया और 9 जून 1900 को रांची जेल में उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन जैसा कि बिरसा कहते थे, व्यक्ति को मारा जा सकता है, उसके विचारों को नहीं।